कामना और वासना
की मर्यादा
—श्रीराम शर्मा आचार्य
भारतीय साहित्य संग्रह

कामना और वासना की मर्यादा

Kamana Aur Vasna Ki Maryada

by

Sriram Sharma Acharya

श्रीराम शर्मा आचार्य

978-1-61301-272-7

दो शब्द

कामना एवं वासना को साधारणतया बुरे अर्थों में लिया जाता है और इन्हें त्याज्य माना जाता है। किंतु यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इनका विकृत रूप ही त्याज्य है। अपने शुद्ध स्वरूप में मनुष्य की कोई भी वृत्ति निंदनीय नहीं है, वरन एक प्रकार से आवश्यक और उपयोगी मानी जाती है। जीवन रक्षा और जीवन विकास के लिए कामना तथा इच्छा का होना अनिवार्य है। इनके बिना तो किसी में कुछ करने का उत्साह ही पैदा नहीं होगा और मनुष्य फिर कष्टसाध्य प्रयत्न, श्रमशीलता में संलग्न ही क्यों होगा।

पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य
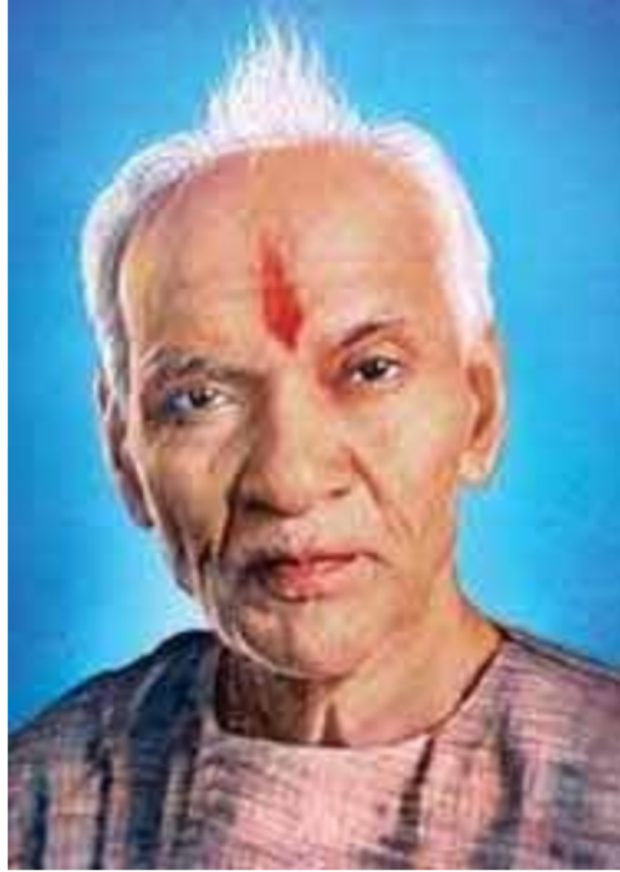
(20 सितम्बर 1911 - 02 जून 1990)

मूल नाम - श्रीराम शर्मा

जन्म - 20 सितम्बर 1911

गाँव - आँवलखेड़ा, आगरा, उत्तर प्रदेश, भारत

मृत्यु - 2जून 1990 हरिद्वार, भारत

अन्य नाम - श्रीराम मत्त, गुरुदेव, वेदमूर्ति, युग ॠषि, गुरुजी

भारत के एक युगदृष्टा मनीषी थे जिन्होने अखिल भारतीय गायत्री परिवार की स्थापना की। उनने अपना जीवन समाज की भलाई तथा सांस्कृतिक व चारित्रिक उत्थान के लिये समर्पित कर दिया। उन्होने आधुनिक व प्राचीन विज्ञान व धर्म का समन्वय करके आध्यात्मिक नवचेतना को जगाने का कार्य किया ताकि वर्तमान समय की चुनौतियों का सामना किया जा सके। उनका व्यक्तित्व एक साधु पुरुष, आध्यात्म विज्ञानी, योगी, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, लेखक, सुधारक, मनीषी व दृष्टा का समन्वित रूप था।

परिचय

पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य का जन्म आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् 1967 (20 सितम्बर 1911) को उत्तर प्रदेश के आगरा जनपद के आँवलखेड़ा ग्राम में (जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है) हुआ था। उनका बाल्यकाल व कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही

बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं.रूपकिशोर जी शर्मा आस-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भगवत् कथाकार थे, किन्तु उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत् विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा, जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे। छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनने संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में अछूत वृद्ध महिला की जिसे कुष्ठ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनने घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उन्होने किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना आरंभ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी। किन्तु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि, जो जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्पलेट्स लिखने,

हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे। इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय, अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय-यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् 1926 में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आधार थी, जबसे महामना पं.मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ। अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनने प्रज्ज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनने संदेश दिया एवं उन्हे तीन संदेश दिए -

1. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरश्चरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था।

2. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए अपना समय लगाकर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के 1938 में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकट हुआ।

3. चौबीस महापुरश्चरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसने भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक हमारी वसीयत और विरासत में लिखते हैं कि प्रथम मिलन के दिन ही समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई-संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सार्मथ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए

नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।

अनुक्रम

इच्छाएँ और उनका सदुपयोग

मनुष्य इच्छाओं का पुतला है। उसके व्यावहारिक जीवन में प्रतिक्षण अनेकों आकांक्षाएँ उठा करती हैं। स्वास्थ्य की, धन की, स्त्री और यश की अनेकों कामनाएँ प्रत्येक मनुष्य में होती हैं। इसके विविध काल्पनिक चित्र मस्तिष्क में बनते बिगड़ते रहते हैं। जैसे ही कोई इच्छा स्थिर हुई कि मानसिक शक्तियाँ उसी की पूर्ति में जुट पड़ीं, शारीरिक चेष्टाएँ उसी दिशा में कार्य करने लगती हैं। संसार की विभिन्न गतिविधियाँ व क्रिया-कलाप चाहे वे भौतिक हों अथवा आध्यात्मिक, इच्छाओं की पृष्ठभूमि पर निरूपित होते हैं। रचनात्मक कदम तो पीछे का है, पहले तो सारी योजनाओं को निर्धारित कराने का श्रेय इन्हीं इच्छाओं को ही है।

स्थिर तालाब के जल में जब किसी मिट्टी के ढेले या कंकड़ को फेंकते हैं तो उसमें लहरें उठने लगती हैं। पत्थर के भार व फेंकने की गति के अनुरूप ही लहरों का उठना, तेजी व सुस्त गति से होता है। ठीक इसी प्रकार हमारी इच्छाएँ क्या हैं, यह हमारी शारीरिक चेष्टाएँ चेहरे के हाव-भाव बताते रहते हैं। व्यभिचारी व्यक्ति की आंखों से हर क्षण निर्लज्जता के भाव परिलक्षित

होंगे। चेहरे का डरावनापन अपने आप व्यक्त कर देता है कि यह व्यक्ति चोर, डाकू, बदमाश है। कसाई की दुर्गंध से ही गाय यह पहचान लेती है कि वह वध करना चाहता है।

इसी प्रकार सदाचारी, दयाशील व्यक्तियों के चेहरे से सौम्यता का ऐसा माधुर्य टपकता है कि देखने वाले अनायास ही उनकी ओर खिंच जाते हैं। विचारयुक्त व गंभीर मुखाकृति बता देती है कि यह व्यक्ति विद्वान, चिंतनशील व दार्शनिक है। प्रेम व आत्मीयता की भावना से आप चाहे किसी जीव-जंतु को देखें, वह भयभीत न होकर आपके उदार भाव की अंतर्मन से प्रशंसा करने लगेगा।

अनंत आनंद के केंद्र परमात्मा के हृदय में एक भावना उठी - एकोऽहं बहुस्याम् और इसी का मूर्तिमान रूप यह मंगलमय संसार बनकर तैयार हो गया। यह उनकी सद्-इच्छा का ही फल है कि संसार में मंगलदायक और सुखकर परिस्थितियाँ अधिक हैं। यदि ऐसा न होता तो यहाँ कोई एक क्षण के लिए भी जीना न चाहता। पर अनेकों दुःख व तकलीफों के होने पर भी हम मरना नहीं चाहते, इसीलिए कि यहाँ आनंद अधिक है।

इच्छा एक भाव है, जो किसी अभाव, सुख या आत्मतुष्टि के लिए उदित होता है। इस प्रकार की इच्छाओं का संबंध भौतिक जगत से होता है। इनकी

आवश्यकता या उपयोगिता न हो, सो बात नहीं। दैनिक जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन चाहिए ही। सृष्टि-संचालन का क्रम बना रहे, इसके लिए दांपत्य जीवन की उपयोगिता से कौन इनकार करेगा। पर केवल भौतिक सुखों के दाँव-फेर में हम लगे रहें तो हमारा आध्यात्मिक विकास न हो पाएगा। तब सौमनस्य व सौहार्दपूर्ण सदिच्छाओं की आवश्यकता दिखाई देती है। प्रेम, आत्मीयता और मैत्री की प्यास किसे नहीं होती। हर कोई दूसरों से स्नेह और सौजन्य की अपेक्षा रखता है। पर इनका प्रसार तो तभी संभव है जब हम भी शुभ इच्छाएँ जाग्रत करें। दूसरों से प्रेम करें, उन्हें विश्वास दें और उनके सम्मान का भी ध्यान रखें। इन इच्छाओं के प्रगाढ़ होने से सामाजिक, नैतिक व्यवस्था सुदृढ़ एवं सुखद होती है पर इनके अभाव में चारों ओर शुष्कता का ही साम्राज्य छाया दिखाई देगा।

मानव जीवन गतिमान बना रहे इसके लिए स्व-प्रधान इच्छाएँ उपयोगी ही नहीं, आवश्यक भी हैं। पर इनके पीछे फलासक्ति की प्रबलता रही तो उसकी तृप्ति न होने पर अत्यधिक दुखी हो जाना स्वाभाविक है। इच्छाओं के अनुरूप परिस्थितियां भी मिल जाएँगी ऐसी कोई व्यवस्था यहाँ नहीं है। कोई लखपती बनना चाहे पर व्यवसाय में लगाने के लिए कुछ भी पूँजी पास न हो, तो इच्छा पूर्ति कैसे होगी? ऐसी स्थिति में दुखी होना ही निश्चित है।

जो भी इच्छाएँ करें वह पूरी ही होती रहें, यह संभव नहीं। इनके साथ ही

आवश्यक श्रम, योग्यता एवं परिस्थितियों का भी प्रचुर मात्रा में होना आवश्यक है। किसी की शैक्षणिक योग्यता मैट्रिक हो और वह कलक्टर बनना चाहे तो यह कैसे संभव होगा? इच्छाओं के साथ वैसी ही क्षमता भी नितांत आवश्यक है। विचारवान व्यक्ति सदैव ऐसी इच्छाएँ करते हैं, जिनकी पूर्ति के योग्य साधन व परिस्थितियाँ उनके पास होती हैं।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम जिन परिस्थितियों में आज हैं, उन्हीं में पड़े रहें। जितनी हमारी क्षमता है उसी से संतोष कर लें। तब तो विकास की गाड़ी एक पग भी आगे न बढ़ेगी। आज जो प्राप्त है, उसमें संतोष अनुभव करें और कल अपनी क्षमता बढ़े, इसके लिए प्रयत्नशील हों तो इसे शुभ परिणति कहा जाएगा। नेपोलियन बोनापार्ट प्रारंभ में मामूली सिपाही था। चीन के प्रथम राष्ट्रपति सनयात सेन अपने बाल्यकाल में किसी अस्पताल के मामूली चपरासी थे। इन्होंने अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए क्रमिक विकास का रास्ता चुना और अपना लक्ष्य पाने में सफल भी हुए।

इस व्यवस्था में लंबी अवधि की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। पर व्यक्तित्व के निखार का यही रास्ता है। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए पहले आप उस काम को करने की दृढ़ इच्छा मन में कर लें। पीछे सारी मानसिक शक्तियों को उसमें लगा दें तो सफलता की संभावना बढ़ जाती है। दृढ़ इच्छा शक्ति से किए गए कार्यों को विघ्न-बाधाएँ भी देर तक रोक नहीं पातीं। संसार में जिन

लोगों ने भी बड़ी इच्छाओं की पूर्ति की, उन्होंने पहले उसकी पृष्ठभूमि को अधिक सुदृढ़ बनाया। पीछे उन कार्यों में जुट पड़े। तीव्र विरोध के बावजूद भी सिकंदर झेलम पार कर भारत विजय दृढ़ मनस्विता के बल पर ही कर सका। ताजमहल आज भी इस धरती पर विद्यमान है।

जीवन लक्ष्य की प्राप्ति भी ऐसे ही महान कार्यों की श्रेणी में आती है। दूसरों से सिद्धियों-सामर्थ्यों की बात सुनकर आवेश में आकर आत्म साक्षात्कार की इच्छा कर लेना हर किसी के लिए आसान है। पर पीछे देर तक उस पर चलते रहना, तीव्र विरोध और अपने स्वयं के मानसिक झंझावातों को सहते हुए इच्छा पूर्ति की लंबे समय तक प्रतीक्षा की लगन हममें बनी रहे, तो परमात्मा की प्राप्ति के भागीदार बन सकना भी असंभव न होगा।

इसके विपरीत यदि हमारी इच्छा शक्ति ही निर्बल, क्षुद्र और कमजोर बनी रहे, तो हमें अभीष्ट लाभ कैसे मिल सकेगा? अधूरे मन से ही कार्य करते रहे तो लाभ के स्थान पर हानि हो जाना संभव है। इच्छाएँ जब तक बुद्धि द्वारा परिमार्जित होकर संकल्प का रूप नहीं ले लेतीं, तब तक उनकी पूर्ति संदिग्ध ही बनी रहेगी। इच्छा शक्ति यदि प्रखर न हुई, तो वह लगन और तत्परता कहाँ बन पाएगी, जो उसकी सिद्धि के लिए आवश्यक है।

मनुष्य इच्छाएँ करे, यह उचित ही नहीं, आवश्यक भी है। इसके बिना प्राणी

जगत निश्चेष्ट एवं जड़वत लगने लगेगा। किंतु इसका एक विषाक्त पहलू भी है, वह है इनकी अति और अनौचित्य। मनुष्य जीवन को क्लेशदायक परिणामों की ओर ले जाने में अति और अनुचित इच्छाओं का ही प्रमुख हाथ है। स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे- ''मनुष्य के भय और चिंताओं का कारण उसकी अपनी इच्छाएँ ही हैं। इच्छाओं की प्यास कभी पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हो पाती।'' बात भी ऐसी ही है। आज जो 100 रुपये पाता है वह कल 1000 रुपये की सोचता है और यदि यह इच्छा पूरी हो गई, तो दूसरे ही क्षण 1 लाख की कामना करने लग जाता है। इच्छा वह आग है, जो तृप्ति की आहुति से और प्रखर हो उठती है। एक पर एक अंधाधुंध इच्छाएँ यदि उठती रहें, तो मानव जीवन नारकीय यंत्रणाओं से भर जाता है।

अच्छी या बुरी जैसी भी इच्छा लेकर हम जीवन क्षेत्र में उतरते हैं वैसी ही परिस्थितियाँ, सहयोग भी जुटते चले जाते हैं। हमारी इच्छा होती है एम० ए० पास करें, तो स्कूल की शरण लेनी पड़ती है। अध्यापकों का साहचर्य प्राप्त करते हैं। पुस्तकें जुटाते हैं। तात्पर्य यह है कि इच्छाओं के अनुरूप ही साधन जुटाने की आदत मानवीय है पर यदि यही इच्छाएँ अहितकर हों, तो दुराचारिणी परिस्थितियाँ और बुरे लोगों का संग भी स्वाभाविक ही समझिए। ऐसी स्थिति में व्यक्ति अपनी कामना भले ही पूर्ण कर ले पर पीछे उसे निंदा, परिताप एवं बुरे परिणाम ही भोगने पड़ेंगे। व्यभिचारी व्यक्ति अपयश और स्वास्थ्य की खराबी से बचा रहे, यह असंभव है। चोर को अपने कुकृत्य का

दंड न भोगना पड़े, यह हो नहीं सकता। तब आवश्यकता इस बात की होती है कि हम अपनी कामनाएँ ही न करें।

विशुद्ध आत्मा से की गई सदिच्छाएँ बड़ी बलवती होती हैं। ऐसा व्यक्ति स्वयं तो स्वर्गीय सुख का अहर्निश आस्वादन करता ही है, साथ ही अनेक औरों को भी सन्मार्ग की प्रेरणा देकर उन्हें भी सदाचार में प्रवृत्त कर देता है। दूसरों की भलाई करने वालों को सदैव सर्वत्र सम्मान-सुख मिलेगा ही। औरों के दु:ख में हाथ बँटाने वाले ही सच्चे मित्र प्राप्त करते हैं। परमार्थ ही जिनकी वृत्ति होती है, उन्हें औरों की आत्मीयता से वंचित रहते कभी किसी ने न देखा होगा। दक्षिण के महान संत तिरुवल्लुवर ने लिखा है- ''योग वही है जो सांसारिक इच्छाओं को वशवर्ती करे, औरों की हित कामना में रत हो।'

यह सच ही है कि मनुष्य इस धरती पर एक महान उद्देश्य लेकर अवतरित हुआ है। यह सुयोग उसे बार-बार नहीं मिलता। आज जो शारीरिक, मानसिक और भावनाओं की क्षमता हमें मिली है, कौन जाने अगले जन्मों में भी मिलेगी अथवा नहीं। फिर हमें सच्चे हृदय से आत्म-कल्याण की ही कामना करनी चाहिए। अपना जीवन लक्ष्य भी पूरा हो सकेगा तथा औरों के प्रति कर्त्तव्य पालन भी हो सकेगा।

हम स्वास्थ्य, सद् गृहस्थ, धन और यश की कामना करें पर परमार्थ को भी

भुलाएँ नहीं। आत्म-तुष्टि का जहाँ ध्यान रहे, वहाँ यह भी न भूलें कि इस संसार में हजारों लाखों ऐसे भी हैं जो हमारी परिस्थितियों से कोसों पीछे पड़े अभाग्य का रोना रो रहे हैं। इनके भी हित एवं कल्याण की इच्छा करना हमारा परम धर्म है। इसके अभाव में तो वह परिस्थितियों भी देर तक न टिक सकेंगी, जो आज हमें मिली हैं। कोई धनी व्यक्ति यदि सारा धन समेटकर बैठ जाए आस-पास के लोग भूखे मरते रहें तो वह व्यक्ति अपनी सुरक्षा स्थिर रखे रहेगा, ऐसी आशा बहुत कम करनी चाहिए।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। अपने परिवार, पड़ोस, गाँव, राष्ट्र की अनेक जिम्मेदारियाँ उस पर होती हैं। हम अपनी सुख-सुविधाओं की बात सोचें पर औरों के प्रति सच्चे हृदय से कर्त्तव्यपालन करने की भी इच्छा करें तभी हमारा भला होगा। जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति भी तभी संभव है जब हममें सदिच्छाएँ जाग्रत हों, औरों के प्रति शुभ कामनाओं का विकास हो।

वासना-त्याग के बिना चैन कहाँ?

अनादिकाल से मनुष्य सुख-शांति की कामना करता और उसको प्राप्त करने का प्रयत्न एवं उपाय करता आ रहा है। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक प्रत्येक कर्म एकमात्र सुख और शांति प्राप्त करने का ही प्रयत्न है। वह धनदौलत कमाता है सुखशांति के लिए। मकान-महल बनाता है सुख-शांति के लिए। स्त्री-बच्चों को करता है सुख-शांति के लिए।

जंगली युग से लेकर आज के उन्नत एवं वैज्ञानिक युग तक मनुष्य लगातार सुख-शांति के साधनों को उन्नत करता, बढ़ाता तथा संचय करता आया है। सुखशांति की खोज में उसने आकाश पाताल एक कर दिए हैं। किंतु क्या उसे अब तक सुख-शांति की प्राप्ति हो सकी है? यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो विपरीत निष्कर्ष ही सामने आएगा। पूर्वकाल की अपेक्षा आज का मनुष्य कहीं अधिक उन्नत व समृद्ध है। उसने अपरिमित साधन एवं सुविधाएँ एकत्र कर ली हैं। किंतु अपने साध्य सुख और शांति को तब भी नहीं पा सका है। बल्कि सत्य यह है कि वह पूर्वकाल की अपेक्षा आज कहीं अधिक व्यस्त एवं व्यग्र है। सुखशांति की खोज करते-करते वह उल्टा दुःख और अशांति के

अंधकार में भटक गया है। सुख-शांति को खोज करता करता मनुष्य आखिर दु:ख एवं अशांति का ग्रास क्यों बनता जा रहा है, इस खेदपूर्ण आश्चर्य का स्पष्टीकरण बहुत आवश्यक है।

मनुष्य की इस विपरीत गति का एक कारण तो यह है कि मनुष्य की सुख-लिप्सा बहुत बढ़ गई है। जिस वस्तु में बहुत स्पृहा अपनी सीमा को लाँघ जाती है तब वह दु:ख का कारण बन जाती है। मनुष्य को सुख मिलते हैं तो वह और सुख चाहता है। जब वह और सुख पाता है तब और अधिक पाने के लिए लालायित हो उठता है। इस प्रकार उसकी स्पृहा उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अतृप्ति अथवा असंतोष का रूप हरण कर लेती है। असंतुष्ट कामनाओं की पूर्ति असंभव है। जहाँ असंतोष है, अतृप्ति है, वहाँ सुख और शांति कहाँ? असंतोष में बदली हुई अपनी लिप्सा पूरी करने के लिए कामनाओं से प्रेरित किया हुआ मनुष्य उचित-अनुचित, युक्त- अयुक्त, सभी प्रकार के काम करने में प्रवृत्त हो जाता है। अत्यधिक सुख का कामी पुरुष दूसरों की सुख-सुविधा का भी विचार नहीं करता, जिससे दु:ख तथा अशांति के परिणाम वाले संघर्ष प्रारंभ हो जाते हैं। जहाँ संघर्षों की चिनगारियाँ दहक रही हों वहाँ और अधिक सुख-शांति तो दूर, जो कुछ रही-बची शांति होती है, वह भी भस्म हो जाती है।

दु:ख एवं अशांति का एक कारण अत्याग अथवा संग्रह वृत्ति भी है। मनुष्य ने

कुछ इस प्रकार की गलत धारणा बना ली है कि वह जितने भी अधिक से अधिक पदार्थ एवं वस्तुएँ अपने पास इकट्ठा कर सकेगा, उतनी ही अधिक सुख-शांति उसे मिल सकेगी। इसी आधार पर लोग अपने पास वस्तुओं का भंडार इकट्ठा करने का प्रयत्न करते रहते हैं। इस प्रकार की संग्रह वृत्ति लोभ को जन्म देती है। वह जो भी वस्तु किसी के पास देखता है उसे पाने के लिए ललचा उठता है। जिस चाही वस्तु को वह सरल मार्ग से प्राप्त कर सकता है, उसे सरल मार्ग से पाने का प्रयत्न करता है अन्यथा उसके लिए छल-कपट तथा कुटिलता करने में भी नहीं चूकता। लोभ होता ही ऐसी बुरी बला है। यह जिसे लग जाती है उसे बुराई की ओर ही प्रेरित करती है। लोभ से ही ईर्ष्या-द्वेष का जन्म होता है। ईर्ष्या एवं द्वेष दो ऐसे विषधर हैं जिनका अशन मनुष्य के हृदय की सुख-शांति ही हुआ करता है। जिनकी मन-बुद्धि और आत्मा इन विषधरों के विष से व्याकुल रहते हैं, वे स्वप्न में भी सुख-शांति की अनुभूति नहीं कर सकते।

सुख-शांति की संभावना से मनुष्य पदार्थों को संग्रह किया करता है और एक दिन उसके यही संग्रहीत उपादान दुःख और अशांति के हेतु बन जाते हैं। वस्तुओं की अधिकता होने से उनकी साज-सँभाल में व्यस्त रहना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाए तो वे विकृत एवं विकारों से अभिभूत होकर नष्ट होने लगेंगे और तब उनमें भ्रामक सुख का हेतु आकर्षण भी होने लगेगा, जिससे न केवल दुःख ही होगा बल्कि वे चीजें एक बोझ बनकर सिर दरद बन

जाएँगी। संग्रह को चोरी का भी भय बना रहता है। उसकी रक्षा की चिंता चिता की तरह जलती हुई नींद तक हर लेती है। यदि इस प्रकार की संभावना न भी रहे तब भी संसार की प्रत्येक वस्तु नाशवान है। सारी चीजें धीरे-धीरे स्वयं ही नष्ट होने लगती हैं। ऐसी दशा में दु:ख होना स्वाभाविक है। बहुधा जड़ पदार्थों की आयु मनुष्य की आयु से अधिक होती है। चीजें बनी रहती हैं किंतु मनुष्य चल देता है। ऐसी कल्पना आते ही लोभी पुरुष को यह भाव सताने लगता है कि हाय ! जिन चीजों को मैंने यत्नपूर्वक इकट्ठा किया है उन्हें छोड़कर मुझे इस संसार से चला जाना पड़ेगा। यह मोहमय चिंतन मनुष्य को कितनी पीड़ा दे सकता है इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

तर्क अथवा अनुमान प्रमाण के अतिरिक्त इस बात के अनेक प्रमाण पाए जा सकते हैं कि पदार्थों के संग्रह में सुख की कल्पना करना मरु-मरीचिका में जल की संभावना करना है। यदि वस्तुओं एवं पदार्थों के संग्रह में सुखशांति रही होती, तो संसार में एक से एक बढ़कर धनकुबेर तथा साधन-संपन्न व्यक्ति विद्यमान हैं, वे सब पराकाष्ठा तक सुखी तथा संतुष्ट होते। दु:ख अथवा अशांति उनके पास-पड़ोस में होकर भी नहीं गुजरते, किंतु ऐसा देखने में नहीं आता। संसार के धन कुबेर, साधन-संपन्न तथा वस्तुओं के भंडारी एक साधारण व्यक्ति से भी अधिक व्यग्र, चिंतित, दुखी तथा अशांत देखे जाते हैं। पदार्थों के अनावश्यक संग्रह में सुख- शांति की संभावना देखना एक भारी भूल है।

इसके विपरीत सुख-शांति के हेतु संतोष, निस्पृहता एवं त्याग ही हैं। त्याग वृत्ति वाले व्यक्ति को लोभ तथा मोह जैसे शत्रु नहीं घेर पाते। उसका अबोझिल मन कम से कम संतुष्ट रहकर सुख भोगा करता है। मनुष्य पुरुषार्थ करता रहता है। उसकी इंद्रियाँ पुरुषार्थ करती हैं। उसका पुरुषार्थ अनंत धन तथा प्रचुर साधनों में फलीभूत हो सकता है। इस पर प्रतिबंध लगाना न्यायसंगत नहीं माना जा सकता कि मनुष्य अपने परिश्रम एवं पुरुषार्थ से होने वाले अपरिमित लाभों को न उठाए। उसे अपने पुरुषार्थ के फल दोनों हाथों से लूटने चाहिए। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि मनुष्य लाभ लूटने के लिए ही पुरुषार्थ करे। उसे पुरुषार्थ, पुरुषार्थ के लिए ही करना चाहिए और तब भी यदि उसके पास प्रचुर मात्रा में विभूतियाँ इकट्ठा हो जाएँ तो उसे उन्हें आवश्यक रूप से अपने पास ही ढेर नहीं लगाते जाना चाहिए। उसे चाहिए कि अपनी आवश्यकताओं को तुष्ट करते हुए उसे अपनी उपलब्धियों का त्याग उनके लिए भी करना चाहिए जो कष्ट में हैं, आवश्यकताओं में हैं। अपने संग्रह का त्याग परोपकार तथा परमार्थ में करने से हृदय को सच्ची सुखशांति मिलती है। त्याग के लिए किया हुआ संग्रह ही सुख-शांति का हेतु है। नहीं तो वह लोभ, दंभ तथा अहंकार का प्रतीक मात्र है जिससे वास्तविक सुख-शांति की अपेक्षा नहीं कर सकती।

मनुष्य की भोगेच्छा भी दु:ख एवं अशांति का बहुत बड़ा कारण है। मनुष्य इस भ्रांत विश्वास का भी शिकार बना हुआ है कि सुख का निवास सांसारिक

भोगों में है। अपने इसी विकृत विश्वास के कारण मनुष्य भोगों में लिप्त रहकर अपनी सुख-शांति की संभावना नष्ट किया करते हैं। यदि संसार के भोग-विलास में सुख-शांति का निवास रहा होता तो संसार का प्रत्येक प्राणी सुखी होता क्योंकि संसार का कदाचित ही कोई प्राणी ऐसा हो जिसे थोड़ा बहुत भोगविलास का अवसर न मिलता हो। किंतु देखा यह गया है कि अधिक भोग-विलास में लिप्त व्यक्ति दैविक, मानसिक तथा आध्यात्मिक, तीनों तापों से त्रस्त रहा करते हैं। उनका शारीरिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, मन मलीन हो जाता है, आत्मा का पतन हो जाता है। जो इन त्रिविध तापों का पात्र बना है यदि वह जीवन में सुख और शांति की कामना करता है, तो अनधिकार चेष्टा का अपराधी माना जाएगा।

भोगों की तृषा एक ऐसी अक्षय प्यास है जो कभी शांत ही नहीं होती। लोग सुख के भ्रम में जवानी में भोगों के प्रति आकर्षित रहते हैं। उसके परिणाम पर विचार नहीं करते कि आज शक्ति होने पर जो वे अपनी वृत्तियों को भोगों का गुलाम बनाए दे रहे हैं, इसका फल आगे चलकर बुढ़ापे में क्या होगा? इस अशक्त एवं जर्जर अवस्था में भोगों की प्यासी वृत्तियाँ क्या शत्रु की तरह त्रास न देंगी? भोग एक प्रज्वलित अग्नि के समान है, इनको जितना ही भोगा जाता है इनकी ज्वाला उतनी ही बढ़ती जाती है और धीरे धीरे एक दिन मनुष्य की सारी सुख-शांति की संभावनाओं को सदा के लिए भस्म कर देती है।

भोगों की भयंकरता समझने के लिए महाराज ययाति का उदाहरण पर्याप्त है। राजा ययाति भोगों में आनंद की कल्पना कर बैठे। निदान आनंद पाने के लिए वे पूरी तरह से भोगों में डूबे रहने लगे। इसका फल यह हुआ कि उन्हें शीघ्र ही जरठता ने घेर लिया। उनकी शक्ति समाप्त हो गई किंतु भोगेच्छा और भी बढ़ गई। राजा ययाति अपनी विकृत वृत्तियों से दिन और रात दुखी रहने लगे। उनका दिन का चैन और रात्रि की नींद गायब हो गई। उनकी अतृप्त वासनाएँ उन्हें पल-पल पर त्रास देने लगीं। विषय-वासनाओं के बंदी राजा ने कोई उपाय न देखकर अपने को याचक बनाया सो अपने पुत्र से और वह भी यौवन का। उन्होंने अपने छोटे पुत्र से एक हजार वर्ष तक के लिए जवानी की भीख इसलिए माँगी कि वे अपनी अतृप्त वासनाओं को पुन: भोग सकें। पुत्र को अपने पिता की दशा पर बड़ा तरस आया। उसने अपना यौवन उन्हें दे दिया। ययाति की वासना कलुषित बुद्धि यह न सोच सकी कि पुत्र पर कितना बड़ा अन्याय होगा। किंतु भोगों का भूखा मनुष्य भेड़िए से कम निर्दयी नहीं होता।

पुत्र से यौवन लेकर राजा ययाति पुन: भोगों में डूब गए और पूरे एक सहस्र वर्षों तक डूबे रहे। उन्हें पूरी आशा थी कि वे विषय-वासना के माध्यम से सच्ची सुख-शांति पा लेंगे। किंतु एक सहस्र वर्ष बीतने पर जब पुत्र को यौवन वापस करने का अवसर आया तो उन्होंने देखा कि उनकी भोग-लिप्सा और अधिक बढ़ गई है। विवशतावश उन्हें पुत्र का यौवन लौटाना पड़ा और एक

अशांत मृत्यु मरने के पश्चात शायद गिरगिट की योनि भोगनी पड़ी। भोगों तथा विषय-वासना में सुखशांति का स्वप्न देखने वालों की यही दशा होना संभाव्य है।

मनुष्य के साध्य, सुख और शांति का निवास कामनाओं, उपादानों अथवा भोग-विलासों में नहीं है। वह कम से कम कामनाओं, अधिक से अधिक त्याग और विषय-वासनाओं के विष से बचने में ही पाया जा सकता है। जो निस्वार्थी, निष्काम, पुरुषार्थी, परोपकारी, संतोषी तथा परमार्थी है, सच्ची सुख-शांति का अधिकारी वही है। सांसारिक स्वार्थों एवं लिप्साओं के बंदी मनुष्य को सुख-शांति की कामना नहीं करनी चाहिए।

कामना और वासना का संतुलित स्वरूप

कामना एवं वासना को साधारणतया बुरे अर्थों में लिया जाता है और इन्हें त्याज्य माना जाता है। किंतु यह ध्यान रखने योग्य बात है कि इनका विकृत रूप ही त्याज्य है। अपने शुद्ध स्वरूप में मनुष्य की कोई भी वृत्ति निंदनीय नहीं है, वरन एक प्रकार से आवश्यक और उपयोगी मानी जाती है। जीवन रक्षा और जीवन विकास के लिए कामना तथा इच्छा का होना अनिवार्य है। इनके बिना तो किसी में कुछ करने का उत्साह ही पैदा नहीं होगा और मनुष्य फिर कष्टसाध्य प्रयत्न, श्रमशीलता में संलग्न ही क्यों होगा।

वासना में इंद्रिय सुख का आकर्षण होने से स्वास्थ्य और सदाचार का उल्लंघन किया जाता है तभी वह त्याज्य मानी जाती है। इंद्रिय लोलुपता के रूप में वासना की परिणति सभी भांति हेय मानी गई है। इसके विपरीत परिवार उद्यान को सजाने, सृष्टि क्रम को जारी रखने और पारस्परिक प्रेम, उदारता एवं सेवा-सहायता का व्यावहारिक जीवन बिताने की दृष्टि से वह आवश्यक भी है। इसी तरह जब मनुष्य अपने ही लाभ की बात सोचता है, अपने हित के लिए दूसरों का ध्यान नहीं रखता, तो यह कामना भी विकृत

मानी जाएगी। लोकसंग्रह के लिए कामना का होना स्वाभाविक है, किंतु लोक संग्रह का आधार स्वहित साधन ही होगा तो इस तरह की कामना मनुष्य के पतन का कारण बनेगी। वस्तुत: देने के लिए ही लेने की कामना होना आवश्यक है। किसी महत्त्वपूर्ण मिशन की पूर्ति में अपने तथा परिवार के भरण-पोषण, सामाजिक उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए उन्मुक्त भाव से देने वाला व्यक्ति उपार्जन की कामना रखता है, तो इसे बुरा नहीं माना जाता।

देने के लिए लेने का क्रम जब बिगड़ जाता है और जब मनुष्य अपने लिए ही संग्रह करने में तल्लीन रहता है। अपने भरण-पोषण और उत्तरदायित्वों के निर्वाह के लिए नहीं, वरन अपना घर भरने में संलग्न हो जाता है तथा इसके लिए दूसरों का कोई ध्यान नहीं रखता, तभी मनुष्य की कामना विकृत हो जाती है। इससे उसका मानसिक संतुलन भी बिगड़ने लगता है। कामना विकृत होकर लोभ, तृष्णा और आसक्ति को जन्म देती है। इन विकारों के बढ़ जाने से मनुष्य की इच्छाशक्ति एवं आत्मबल क्षीण हो जाते हैं और फिर भय, आशंका, चिंता, अशांति आदि का प्रादुर्भाव होता है। संगृहीत वस्तुओं की हानि की तनिक-सी आशंका मनुष्य को चिंतित एवं परेशान करने लगती है। हानि के भय का धक्का कई बार इतना प्रबल होता है कि लोगों की मृत्यु तक हो जाती है या वे मानसिक रोगी बन जाते हैं। अपहरण, चोरी, डकैती, भेद खुलने का डर बढ़ने लगता है। अर्थ संग्रह के इस अनैतिक कार्य को मनुष्य का अंतर स्वीकार नहीं करता और उसका नैतिक भाव उसकी भर्त्सना

करने लगता है। मनुष्य का आंतरिक एवं बाह्य जीवन संघर्षमय बन जाता है, जिसका परिणाम पतन, विनाश, असफलताओं के रूप में निकलता है।

वासना की मूल प्रेरणा इंद्रिय सुख में ही नहीं, वरन संतान के रूप में अपनी अभिव्यक्ति के फलस्वरूप होती है। इंद्रिय सुख तो गौण है, स्थूल रूप में आत्माभिव्यक्ति के कार्यक्रम को रसपूर्ण बनाने के लिए प्रकृति प्रदत्त एक उपहार है। देखा जाता है कि इंद्रिय सुखों को पर्याप्त भोगकर भी संतान के अभाव में स्त्रीपुरुष अतृप्त और असंतुष्ट बने रहते हैं अतएव वासना संतान के रूप में आत्माभिव्यक्ति का प्रकृत स्पंदन है और इसके साथ स्त्री, संतान, परिवार की सेवा, उनका भरण-पोषण, सुख-सुविधा का महान उत्तरदायित्व जुड़े हुए हैं। किंतु इन महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्वों पर ध्यान न देने वाले, स्वेच्छाचारी इंद्रिय सुखों को ही वासना तृप्ति का आधार बनाकर चलते हैं तो उनमे इंद्रिय लोलुपता पैदा हो जाती है। लोग स्वास्थ्य और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करके मनमानी करते हैं, फलस्वरूप यही वासना विष-बेल बनकर मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। ऐसे लोग नारकीय जीवन बिताते हैं। आंतरिक अशांति, क्लेश के साथ अनेक बीमारियों, रोग, दुर्बलताओं के शिकार होकर स्वयं दीनहीन असमर्थ बन जाते हैं। वासना अपना मूल्य चाहती है। संतान, स्त्री, परिवार की सेवा, भरण-पोषण, उनकी सुख-सुविधाओं में अपने आपको उत्सर्ग करके जो इस मूल्य को नहीं चुकाता और मनमाने ढंग से इंद्रिय सुखों में ही वासना तृप्ति का

आधार ढूँढता है उसे सदैव अशांत, उद्विग्न, दुखी, क्लेशमय जीवन बिताना पड़े, तो कोई आश्चर्य नहीं।

कामना और वासना की विकृति से मनुष्य में कई शारीरिक एवं मानसिक विकार पैदा हो जाते हैं, जो मनुष्य के जीवनक्रम तथा चेष्टाओं में असंतुलन पैदा करते हैं। इस स्थिति में मनुष्य का अभिमान प्रबल हो जाता है और अभिमान के खूंटे से बँधी हुई साथ-साथ विकृत वासना, कामनाओं की जड़ें मजबूत हो जाती हैं। मनुष्य की कामना, वासना में विक्षेप पड़ने से उसके अहंकार को चोट पहुँचती है और इसकी परिणति क्रोध के रूप में प्रकट होती है। अपनी कामना, वासना की पूर्ति में तनिक-सी अड़चन पैदा होने पर मनुष्य क्रोधित हो उठता है। क्रोध से बुद्धि, विवेक नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य जो चाहे सो कर बैठता है। वासना और कामना की पूर्ति में विक्षेप पड़ने पर आए दिन होने वाली हत्याएँ दुर्घटनाएँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। वस्तुत: कामना, वासना में अंधलिप्त मनुष्य बुद्धि-विवेकहीन उन्माद की अवस्था में होता है, वह जो कुछ भी कर बैठे तो कोई आश्चर्य नहीं।

मनुष्य की कामना, वासना की पूर्ति दूसरों के सहयोग-संयोग से ही संभव होती है। अकेला व्यक्ति तो सुखों का उपभोग भी नहीं कर सकता। कदाचित् किसी व्यक्ति को स्वर्ग-उद्यान में अकेला ही रहने को कहा जाए तो कोई तैयार न होगा। कोई तैयार भी होगा तो वहाँ से जल्दी ही मानव समूह में आने

के लिए व्याकुल हो उठेगा। दूसरों से मिलकर उनके संयोग-सहयोग से ही मनुष्य अपनी कामना और वासना को तृप्त करता है। इसके लिए उसे पर्याप्त मूल्य चुकाना भी आवश्यक है। दूसरों की सेवा, सहायता करके उन्हें सुख पहुँचाने के लिए मनुष्य को अपने साधन, संग्रह और स्वयं को किसी न किसी रूप में उत्सर्ग करना ही पड़ता है।

लेने और देने का, संग्रह और त्याग का, सुख पाने और सुख देने का, आनंद लेने और दूसरों को आनंदित करने का दोतरफा प्रयत्न ही मनुष्य के संतोष और सुख का आधार बनता है। इन दोनों प्रक्रियाओं में से एक के अभाव में भी मनुष्य अपनी कामना और वासनाओं की ठीक-ठीक तृप्ति नहीं कर सकता और वह सदैव अतृप्त, अशांत, उद्विग्न ही रहता है। दूसरे शब्दों में दूसरों को सुखी करने, पर हित साधना में किए गए आत्मोत्सर्ग, त्याग की प्रक्रिया में प्राप्त होने वाला आनंद ही मनुष्य की वासना और कामनाओं को तृप्त करता है। दूसरों के लिए आत्म त्याग, आत्मोत्सर्ग की यह प्रवृत्ति जितनी बढ़ती जाएगी उतनी ही मनुष्य की वासना और कामनाएँ शुद्ध स्वरूप में उत्कृष्ट होती जाएँगी और मनुष्य का जीवन भी विकास तथा उन्नति की मंजिल पर अग्रसर होता जाएगा।

अपनी शक्ति, साधन, संग्रह को दूसरों के धारण, पोषण, अभिवर्द्धन में लगा देने पर, दूसरों को सुखी, आनंदित बनाने के लिए प्रेम और त्याग की भावना

से किया गया उत्सर्ग, त्याग का स्तर ज्यों-ज्यों बढ़ता जाएगा उसी के अनुसार मनुष्य उच्चकोटि की स्थिति प्राप्त करता जाएगा। सब के हित, लाभ, कल्याण की बात सोचने वाले, सबसे प्रेम और अनुराग रखने वाले, सर्वात्मा में रमण करने वाले, सबके लिए अपना उत्सर्ग और त्याग करने वाले व्यक्ति ही महापुरुष, महानुभाव, महात्माओं की श्रेणी में आते हैं।

महानता की यह यात्रा स्वयं से शुरू होकर पत्नी, बच्चे, परिवार, रिश्तेदार, पड़ोसी, देश, जाति की मंजिलों से गुजरती हुई विश्वात्मा की विराट सत्ता तक पहुँचती है। इस तरह कामना और वासना, लोक संग्रह तथा त्याग, प्रेम और आत्मोत्सर्ग के संतुलित क्रम में विकसित होकर मनुष्य को पूर्ण बनाने का मार्ग प्रशस्त करती है। देश, धर्म, मानवता के लिए परवानों की तरह जल मरने वाले लोग तत्संबंधी कामना-इच्छा से ही प्रेरित होते हैं। विशेष प्रकार की कामनाएँ ही मनुष्य को समाज सुधार, जन सेवा के लिए तत्पर करती हैं। ज्ञान संग्रह की तीव्र कामना ही मनुष्य के अध्ययन, चिंतन, मनन का आधार बनती है।

आत्म-कल्याण की कामना ही मनुष्य को विभिन्न साधनाओं में प्रेरित करती है। परमात्मा में आत्मा का प्रवेश पाने, आंतरिक प्रेम की अभिव्यक्ति करने के लिए भक्त भगवान के नाना रूपों का चिंतन कर उनमें लीन होता है। वस्तुतः ईश्वर प्रेम, भक्ति, उत्कृष्ट और विकसित वासना, प्रेम का ही

परिवर्तित स्वरूप है। इन अवस्थाओं में मनुष्य विरह, वेदना, रोमांच, आत्म-प्रणय, निवेदन, समर्पण, आलिंगन आदि उन सभी क्रियाओं की भावनाओं को पोषण देता है, जिन्हें एक प्रेमी और प्रेमिका परस्पर वासना प्रेरित होकर अपनाते हैं। किंतु एक उत्कृष्ट भावना, आत्माभिव्यक्ति की निर्मल और उन्मुक्त धारा है तो दूसरी व्यक्तिगत प्रेम की सीमित शारीरिक-मानसिक उत्तेजनाओं को शांत करने वाली स्थूल प्रक्रिया।

आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी कामना, वासना, इच्छाओं को 'स्व' से हटाकर 'पर' की ओर प्रेरित करें। स्थूल जीवन से हटकर आत्मा-परमात्मा की ओर अभिमुख हों। जनहित के लिए लोक संग्रह करें, सबसे प्रेम करें, विश्वात्मा में रमण करें। हमारे कर विराट का आलिंगन करने के लिए जन-जन से गले मिलने के लिए फैल जाएँ। हमारी जीवनी शक्ति, हमारे प्राण 'विश्व प्राण' में समा जाएँ और कोटि-कोटि मूर्तियों में स्पंदित हो उठें। खंड-खंड में, पदार्थ मात्र में फैली हुई आत्मा को हम अपने अंक में समेट लें, उसे प्यार करें, दुलार करें, उसमें रमण करें। हम देखेंगे कि हमारी कामना, वासना हमारे जीवन की सहचरी बनकर जीवन यात्रा को सुखद, आनंदमय बनाती हुई हमें मंजिल की ओर प्रेरित कर रही है। तब सहसा हमें सोचने को बाध्य होना पडेगा- ''कौन कहता है, कामना और वासना निकृष्ट है, हेय है अथवा त्याज्य है।''

निराशा से बचने का उपाय, कम कामनाएँ

''मनुष्य कुछ भी नहीं है, वह एक चलता-फिरता धूल-पिंड है, उसकी शक्तियों सीमित हैं। वह नियति के हाथ की कठपुतली है, भाग्य का खिलौना और हर समय काल का कवल है।'

इस प्रकार के निषेधात्मक एवं निराशापूर्ण विचार रखने वाले निस्संदेह धूल-पिंड, भाग्य की कठपुतली और जीवित अवस्था में भी मृतक ही होते हैं। जो कायर और निराशावादी है वह अभागा ही है। जहाँ संसार में लोग कंधे से कंधा भिड़ाकर उन्नति और विकास के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं, वहाँ निराशावादी विषाद का रोग पाले हुए दुनिया के एक कोने में पड़े मक्खियाँ मारा करते हैं। समाज की निरपेक्षता तथा संसार की नश्वरता को कोसा करते हैं। मनुष्य की इस दशा को दुर्भाग्य नहीं तो और क्या कहा जाएगा। मनुष्य योनि में आकर जिसने जीवन में कोई विशेष कार्य नहीं किया, किसी के कुछ काम नहीं आया, उसने मनुष्य शरीर देने वाले उस परमात्मा को लज्जित कर दिया। अपने में अनंत शक्ति होने पर भी दीनतापूर्ण जीवन बिताना, दयनीयता को अंगीकार करना अपने साथ घोर अन्याय करना है। मनुष्य

जीवन रोने- कलपने के लिए नहीं, हँसते-मुस्कराते हुए अपना तथा दूसरों का उत्कर्ष करने के लिए है।

मनुष्य जीवन के लिए निराशा अस्वाभाविक है। यह एक प्रकार का मानसिक रोग है जो मनुष्य को हीन विचारों, जीवन में आई कठिनाइयों और असफलता के कारण लग जाता है। इच्छाओं की पूर्ति न होने, मनचाही परिस्थितियाँ न पाने से मनुष्य में संसार के प्रति, अपने प्रति तथा समाज के प्रति घृणा हो जाती है। बार-बार असफलता पाने से मनुष्य का साहस टूट जाता है और वह निराश होकर बैठ जाता है। जीवन के प्रति उसका कोई अनुराग नहीं रह जाता।

निराशाग्रस्त मनुष्य दिन-रात अपनी इच्छाओं, कामनाओं और वांछाओं की अपूर्ति पर ओंसू बहाता हुआ उनका काल्पनिक चिंतन करता हुआ तड़पा करता है। एक कुढ़न, एक त्रस्तता, एक वेदना हर समय उसके मनोमंदिर को जलाया करती है। बार-बार असफलता पाने से मनुष्य का अपने प्रति एक क्षुद्र भाव बन जाता है। उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह किसी काम के योग्य नहीं है। उसमें कोई ऐसी क्षमता नहीं है, जिसके बल पर वह अपने स्वप्नों को पूरा कर सके, सुख और शांति पा सके।

साहस रहित मनुष्य का वैराग्य, असफलताजन्य विरक्ति और निराशा से

उपजी हुई आत्मग्लानि बड़ी भयंकर होती है। इससे मनुष्य की अंतरात्मा कुचल जाती है।

ऐसे असात्विक वैराग्य का मुख्य कारण मनुष्य की मनोवांछाओ की असफलता ही है, जिसके कारण अपने से तथा संसार से घृणा हो जाती है। प्रतिक्रियास्वरूप संसार भी उससे नफरत करने लगता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की मनोदशा उस भयानक बिंदु के पास तक पहुँच जाती है जहाँपर वह त्रास से त्राण पाने के लिए आत्महत्या जैसे जघन्य पाप की ओर तक प्रवृत्त होने लगता है।

जो भी अधिक इच्छाएँ रखेगा, बहुत प्रकार की कामनाएँ करेगा, उसका ऐसी स्थिति में पहुँच जाना स्वाभाविक ही है। किसी मनुष्य की सभी मनोकामनाएँ सदा पूरी नहीं होती। वह हो भी नहीं सकतीं। मनुष्य की वांछाएँ इतनी अधिक होती हैं कि यदि संसार के समस्त साधन लगा दिए जाएँ तब भी वे पूरी न होंगी।

ऐसा नहीं है कि मनुष्यों की इच्छाएँ पूर्ण नहीं होती हों, किंतु इच्छाएँ उसी मनुष्य की पूर्ण होती हैं जो उनको सीमित एवं नियंत्रित रखता है। जिसकी आकांक्षाएँ अनियंत्रित हैं, जिनका कोई ओर- छोर ही नहीं है उसकी कोई भी महत्वाकांक्षा पूर्ण होने में संदेह रहता है। बहुधा अनंत आकांक्षाओं वाले

व्यक्ति को घोरतम निराशा का ही सामना करना पड़ता है।

इच्छाओं के ऐसे दुष्परिणाम देखकर ही भारतीय मनीषियों ने इच्छाओं को त्याज्य बतलाया है। उन्होंने अच्छी प्रकार इस सत्य को अनुभव कर लिया था कि जो इच्छाओं के प्रति त्याग भावना नहीं रखता उसकी इच्छाएँ धीरे-धीरे एक से दो और दो से चार होती हुई शीघ्र ही बढ़ती चली जाती हैं और फिर वे न तो नियंत्रण में आ जाती हैं न पूरी हो पाती हैं। फलस्वरूप मनुष्य को घोर निराशा की स्थिति में पहुँचा देती हैं। अतएव ऋषि-मुनियों ने हृदय को पूर्ण रूप से निष्काम रखने का ही आदेश दिया है।

इस इच्छा त्याग का गलत अर्थ लगाकर लोग यह कह उठते हैं कि जिसमें कोई इच्छा नहीं होगी, वह कोई काम ही न करेगा और यदि एक दिन संसार का हर मनुष्य इच्छा रहित होकर निष्काम हो जाए तो सृष्टि की सारी गतिविधि ही नष्ट हो जाए और यह चौपट हो जाए।

इच्छाओं के त्याग का अर्थ यह कदापि नहीं कि मनुष्य प्रगति, विकास, उत्थान और उन्नति की सारी कामनाएँ छोड़कर निष्क्रिय होकर बैठ जाए। इच्छाओं के त्याग का अर्थ उन इच्छाओं को छोड़ देना है जो मनुष्य के वास्तविक विकास में काम नहीं आतीं, बल्कि उलटे उसे पतन की ओर ही ले जाती हैं। जो वस्तुएँ आत्मोन्नति में उपयोगी नहीं, जो परिस्थितियाँ मनुष्य को

भुलाकर अपने तक सीमित कर लेती हैं, मनुष्य को उनकी कामना नहीं करनी चाहिए। साथ ही वांछनीय कामनाओं को इतना महत्त्व न दिया जाए कि उनकी अपूर्णता शोक बनकर सारे जीवन को ही आक्रांत कर ले।

मनुष्य का लगाव इच्छाओं से नहीं, बल्कि उनकी पूर्ति के लिए किए जाने वाले कर्म से ही होना चाहिए। इससे कर्म की गति में तीव्रता आएगी और मनुष्य की क्षमताओं में वृद्धि होगी, जिससे मनोवांछित फल पाने में कोई संदेह नहीं रह जाएगा। इसके साथ ही केवल कर्म से लगाव होने पर यदि कोई प्रयत्न असफल होता है, तो मनुष्य उससे अधिक उपयुक्त प्रयत्न में लग जाएगा। असफलता उसे प्रभावित नहीं कर पाएगी इच्छा के प्रति लगाव रहने से प्रयत्न की असफलता पर मनोवांछा पूरी न होने से उसका जी रो उठेगा। वह अपनी कामना के लिए तड़पने और कलपने लगेगा। अपेक्षित फल न पाने से उसे कर्म के प्रति विरक्ति होने लगेगी, प्रयत्नों से घृणा हो जाएगी और तब कर्म का अभाव उसको निष्क्रिय बनाकर घोर निराशा की स्थिति में भेज देगा। अस्तु मनुष्य को मनोवांछाएँ प्राप्त करने और निराशा के भयानक अभिशाप से बचने के लिए अपना लगाव इच्छाओं के प्रति नहीं, बल्कि उनके लिए आवश्यक प्रयत्नों के प्रति ही रखना चाहिए।

मनुष्य की वे वासनाएँ उपयुक्त कही जा सकती हैं जो उसके विकास में सहायक हों। संपत्ति की कामना तभी उपयुक्त है जब वह कोई महान कार्य

संपादित करने में काम आए संपत्ति की कामना इसलिए करना ठीक नहीं कि लोग हमें धनवान समझें, समाज में प्रभाव बड़े, संसार की हर चीज प्राप्त की जाए भोगों के अधिक साधन संग्रह किए जाएँ। लोग संतान की वासना करते हैं, ठीक है संतान की कामना स्वाभाविक है, किंतु संतान को केवल इसलिए चाहना कि मैं पुत्रवान समझा जाऊँ, संपत्ति का कोई उत्तराधिकारी हो जाए, बहुत उपयुक्त नहीं। देश को अपने प्रतिनिधि के रूप में एक अच्छा नागरिक देने के लिए संतान की कामना महान एवं उपयुक्त है। लोग जीवन में कीर्ति चाहते हैं, अपनी ख्याति चाहते हैं और उसके लिए न जाने कौन-कौन से उपाय प्रयोग किया करते हैं। ख्याति इसीलिए चाहना ठीक नहीं, कि समाज में प्रभाव बढ़ेगा, उससे हजार प्रकार के काम निकलेंगे, लोग आदर करेंगे, चाटुकारी करेंगे, प्रतिष्ठा बढ़ेगी। मनुष्य को कीर्तिकामी होना चाहिए किंतु यह तभी ठीक होगा कि वह कीर्ति का उपार्जन अपने सत्कर्मों से करे, अन्याय और धूर्तता से नहीं।

इस प्रकार की उपयुक्त कामनाएँ रखने वाला व्यक्ति कभी भी उनकी असफलाओं से दुखी नहीं होता और न कभी निराशा की स्थिति में पहुँचता है। अपने व्यक्तिगत सुखभोग के लिए विषयों की कामना परिणाम में ही नहीं, प्रारंभ में भी दु:खदायी होती है। आत्म-विकास और समाजकल्याण के लिए की हुई कामनाएँ आदि एवं अंत दोनों में ही सुखदायी एवं कल्याणकारी रहती हैं। जीवन में निराशा से बचने के लिए मनुष्य को कम से कम कामनाएँ

रखना ही ठीक है। कामनाओं की अधिकता ही निराशा और पतन का कारण होती है।

इच्छाएँ पाप नहीं हैं, पाप है उनकी निकृष्टता

संसार का स्वरूप इच्छाओं का ही मूर्त रूप है। संसार का प्रकृत स्वरूप ही ईश्वर और उसका परिष्कृत, परिवर्तित एवं परिमार्जित रूप मनुष्य की इच्छाओं का फल है। यह सारा जगत भी एकमात्र ईश्वर की इच्छा का स्कुरण है। मनुष्य भी जो कुछ करता-धरता है, उसके मूल में इच्छा का ही प्राधान्य रहता है। ईश्वर ने अपनी इच्छा शक्ति से मनुष्य सहित संपूर्ण चराचर जगत की सृष्टि कर दी और मनुष्य को विविध शक्तियों से संपन्न कर उसके कर्तृव्य का खेल देखने के लिए अवस्थित हो गया। मनुष्य को क्रियाशील बनाने के लिए इच्छाओं के साथ सुख-दुःख का द्वंद्व देकर संचालित कर दिया।

मनुष्य ने जब होश सँभाला होगा, अपनी वास्तविक चेतना में आया होगा, तो उसने अपने चारों ओर प्रकृति के प्रचुर साधन बिखरे देखे होंगे और उनको अपनी सुख-सुविधा के लिए प्रयोग में लाने की इच्छा करने लगा होगा। यहीं से उसकी इच्छा का विकास और आवश्यकता का अनुभव प्रारंभ हो गया होगा। आज संसार का जो परिष्कृत रूप दिखाई देता है, बड़े-बड़े निर्माण और सृजन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे मनुष्य की प्रारंभिक इच्छा का क्रमानुगत

परिणाम हैं।

मनुष्य में इच्छा का उदय होना कोई अस्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है। मनुष्य स्वयं ही उस विराट एवं पुराण पुरुष की इच्छा का परिणाम है, तब उसका इच्छुक होना सहज स्वाभाविक है। जहाँ इच्छा नहीं, वहाँ सृजन नहीं, विकास नहीं, उन्नति और प्रगति नहीं। जिसकी इच्छाएँ मर चुकी हैं वह जड़ है, निर्जीव है, श्वास वायु के आवागमन का एक यंत्र मात्र ही है। जो इच्छुक नहीं, वह निष्क्रिय है, निकम्मा है और निरर्थक है। इसके साथ ही यह भी कहा जा सकता है, जो चेतन है, प्राणी है वह इच्छा से रहित नहीं हो सकता खाने-पीने, चलने-फिरने आदि और यदि और कुछ नहीं तो जीने की इच्छा तो करेगा ही और किन्हीं कारणों से जिसे जीने की भी इच्छा नहीं है, तो मरने की इच्छा तो रखता ही होगा। आशय यह है कि क्या मनुष्य, क्या जीव-जंतु क्या कीट-पतंग और क्या स्वार्थी- परमार्थी, मोही, मुमुक्षु पंडित, विद्वान, मूर्ख, स्त्री-पुरुष, बालक और वृद्ध सभी में अपनी-अपनी तरह की कुछ न कुछ इच्छा अवश्य रहती है। इच्छा जीवन का एक ज्वलंत सत्य है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता। यदि जीवों में अपनी मौलिक इच्छाएँ न भी जन्म लें तो भी भोजन, जल, निद्रा तथा मैथुन आदि की नैसर्गिक इच्छाएँ तो उसमें वर्तमान ही हैं।

मनुष्य में यदि इच्छा का उदय न हो तो संसार का विकास ही रुक जाए।

इच्छा ने ही मनुष्य की विवेक, बुद्धि और सृजन शक्ति को उत्तेजित किया है, जिसके बल पर उसने ऊँचे-ऊँचे महल, लंबे-लंबे राजमार्ग, बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की; विविध कला-कौशलों के साथ अच्छी से अच्छी सभ्यता-संस्कृतियों का विकास किया। इच्छा करना कोई पाप नहीं, पाप है-इच्छा का निकृष्ट होना, इच्छा करके उसकी पूर्ति का प्रयत्न न करना अथवा पूर्ति के लिए अनुचित उपायों और साधनों को प्रयोग में लाना।

इच्छा की निकृष्टता उसके सीमित अथवा साधारण होने में नहीं है, निकृष्टता उसके उद्देश्य की तुच्छता में है। जैसे यदि कोई, यह इच्छा करता है कि यदि वह किसी प्रकार से मिडिल पास हो जाता, तो पंचायत-मंत्री बनकर अनपढ़ ग्रामीणों से खूब लाभ उठाता। मिडिल पास करने और पंचायत-मंत्री बनने की इच्छा अपने में कोई बड़ी इच्छा न होते हुए भी निकृष्ट नहीं मानी जा सकती, किंतु इसको निकृष्ट बना देता है, इसके साथ निरक्षर ग्रामीणों से लाभ उठाने का जुड़ा हुआ उद्देश्य! यदि यह इच्छा मिडिल पास करने और पंचायत-मंत्री के रूप में अपनी शिक्षा का उपयोग करने तक सीमित रहती तो बहुत निःस्वार्थ एवं उच्च न होने पर भी निकृष्ट नहीं कही जा सकती थी। यह केवल निकृष्ट हुई है, अपने उद्देश्य की तुच्छता के कारण और यदि इसी साधारण इच्छा के साथ पंचायत-मंत्री बनकर निरक्षर ग्रामीणों को साक्षर बनाने और गाँवों का यथासंभव विकास करने में योग देने का उद्देश्य जुड़ जाता तो यही साधारण इच्छा उच्चकोटि की परिधि में पहुँच जाती। यद्यपि

उद्देश्य के उच्च होने पर भी उक्त इच्छा में व्यक्ति का जीविका संबंधी स्वार्थ निहित था और उद्देश्य में भी कोई अतिरिक्त विशेषता नहीं, एकमात्र मंत्री के कर्त्तव्य का सच्चा पालन भर ही है, तथापि इस इच्छा को निकृष्ट अथवा सामान्यतम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीविका संबंधी उत्तरदायित्व को पूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठा तथा ईमानदारी के साथ निर्वाह करने की मनोवृत्ति भी ऊँची ही मानी जाएगी।

निकृष्टता न केवल स्वयं में एक व्यावहारिक अथवा सामाजिक पाप है, वरन यह एक आध्यात्मिक पाप भी है। निकृष्ट इच्छा की प्रतिक्रिया आत्मा पर अहितकर होती है। निकृष्टता से आत्मा का दिव्य आलोक मंद होता है, आत्मा संकुचित होती है, जिसमें ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि मनोविकार घेर लेते हैं और मनुष्य मानव से पशु बन जाता है। जहाँ ऊँची इच्छाएँ संसार में सुंदरता, शांति एवं सुख की वृद्धि करती हैं, वहाँ निकृष्ट इच्छाएँ संसार में अशांति और संघर्ष को जन्म देती हैं। संसार में अशांति के कारणों को जन्म देने वाला ईश्वरीय इच्छा का विरोध है, जिससे बड़ी से बड़ी इच्छा की पूर्ति हो जाने पर निकृष्ट उद्देश्य व्यक्ति एक क्षण को भी सुख- शांति नहीं पाता और वैभव के बीच भी तड़प-तड़पकर ही मरता है। उसकी आत्मा का पतन हो जाता है और लोक व परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

इच्छा का उदय होने पर उसकी पूर्ति का प्रयत्न न करना भी पाप है। मनुष्य

की सत् इच्छा उसके हृदय में उतरना एक ईश्वरादेश ही होता है। इच्छा के रूप में ईश्वर उसे कहता है कि, तू ऐसा बन अथवा ऐसा कर। ऐसी दशा में इच्छा की उपेक्षा कर देना, उसकी ओर ध्यान न देना, ईश्वर के आदेश की अवहेलना है। ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना करने वाला व्यक्ति कभी भी सुख-शांति नहीं पा सकता। इच्छा के रूप में ईश्वरीय आदेश की अवहेलना करने वाले को इच्छाओं के माध्यम से ही दंड दिया जाता है। एक इच्छा के बाद दूसरी इच्छा और दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार उक्त व्यक्ति के हृदय में इच्छाओं की एक भीड़ जमा हो जाती है और अपूर्ण रहने की पीड़ा से चीखती-चिल्लाती हुई जीना हराम कर देती है। जिसका हृदय अपूर्ण इच्छाओं का क्रीड़ा स्थल बन जाता है उसके लिए किसी अन्य नरक की आवश्यकता नहीं रहती। उसकी इच्छाएँ ही उसे नारकीय पीड़ा देने के लिए पर्याप्त हैं। अतएव जीवन की सुख-शांति के लिए सदा शिव इच्छाओं को ईश्वरीय आदेश समझकर पूर्ण करने के लिए भरसक प्रयत्न करना चाहिए। एक इच्छा को लेकर कर्त्तव्य-रत हो जाने पर जब तक उसकी पूर्ति नहीं हो जाती, किसी दूसरी इच्छा को आने का अवसर नहीं मिलता और इस प्रकार मनुष्य अपूर्ण इच्छाओं के क्रांतिपूर्ण आदोलन की पीड़ा से बचा रहता है।

इच्छा की पूर्ति में क्रियाशील रहने से मनुष्य के शक्ति-कोषों का उद्घाटन होता है, जिससे दिन-दिन वह विकास और उन्नति की ओर बढ़ता हुआ अपने को परम पद के योग्य बना लेता है।

अनुचित साधन अथवा उपाय अपनाने वाले व्यक्ति की आत्मा पर भी पाप की छाया पड़ती है, जिससे परमात्मा का एक अंश आत्मा का अपमान होता है, जो कदाचित किसी भी दशा में किसी को वांछनीय न होगा। शुभ साधनों के प्रयोग से इच्छा की पूर्ति में विलंब हो सकता है, अधिक परिश्रम करना पड़ सकता है, किंतु कठिन परिश्रम के बाद जो पुरुषार्थ का फल मिलेगा वह स्वर्ग से कम सुखदायक नहीं हो सकता।

अनुचित साधनों से आई हुई सफलता विष-फल से भी भयानक होती है। विष-फल केवल मनुष्य के प्राण ही लेता है, किंतु अनौचित्यजन्य फल मनुष्य का ओज-तेज, पुण्य-प्रभाव सबको नष्ट कर देता है और मनुष्य को जीवित दशा में ही घृणित शव बना देता है।

इच्छाओं का उदय और उनकी पूर्ति का प्रयत्न पाप नहीं। पाप है - उनका निकृष्ट एवं अनुचित सिद्ध होना।

असमंजस की बात है कि वर्तमान युग में पुरातन युग की क्रियाशक्ति इच्छा विद्यमान तो है, उसने अपना स्वरूप और आकार तो बढ़ा लिया है; किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छाओं के धरातल पर आत्म-विकास का जो आधार होना चाहिए था वह निरंतर टूटता जा रहा है। जिससे संसार में क्रियाशीलता और संकल्प शक्ति होते हुए भी उसका जो आनंद पृथ्वी पर

प्रकट होना चाहिए था, वह नहीं हो पा रहा।

इच्छाएँ भ्रमित हो गई हैं, विकृत हो गई हैं, जब कि वे क्रियाशील अपनी आवेग क्षमता के साथ हैं, फलस्वरूप परिणाम उल्टे दृष्टिगोचर होने लगे। हमारी इच्छाओं को चाहिए था कि वे हमें सृजनात्मक दिशा की ओर मोड़तीं। जिससे पार्थिव जीवन सुखी और समृद्ध होता, साथ ही साथ पारमार्थिक उद्देश्यों की प्राप्ति होती। संक्षेप में यह लोक शांत और संतुष्ट बनता, परलोक में भी चिर-विश्रांति का विश्वास परिपुष्ट होता।

हुआ यह कि विकृत इच्छाओं ने इस जीवन को अशांत बना दिया है। पारलौकिक जीवन की सुख-शांति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। भटकी हुई इच्छाएँ अपने आपको भी सँभालने में समर्थ नहीं हो पा रहीं तो लोकोत्तर जीवन की दिशा में उन्मुख ही कैसे हो सकती हैं, जबकि इच्छाओं का अंतिम ध्येय परम-सुख, परम शांति युक्त परमात्मा को प्राप्त करना होना चाहिए था।

इस परम लक्ष्य से भटककर आज के मनुष्य ने जो दिशा पकड़ी है वह निकृष्ट होती चली जा रही है। व्यक्ति दिन-प्रतिदिन पाप की ओर बढ़ता जा रहा है। उसमें जो क्षणिक आकर्षण है उस प्रलोभन में फँसा हुआ जीव इच्छाओं के स्वरूप को भी समझ पाने में असमर्थ हो रहा है। इस नासमझी को दुरुस्त

कर लिया जाए तो लोकोत्तर जीवन की उत्तमता का निश्चय भले ही न हो, यह जीवन तो स्वर्गीय आनंद की अनुभूति के साथ बिताया ही जा सकता है।

हमारा सत्संकल्प

* हम ईश्वर को सर्वव्यापी, न्यायकारी मानकर उसके अनुशासन को अपने जीवन में उतारेंगे।

* शरीर को भगवान का मंदिर समझकर आत्मसंयम और नियमितता द्वारा आरोग्य की रक्षा करेंगे।

* मन को कुविचारों और दुर्भावनाओं से बचाए रखने के लिए स्वाध्याय एवं सत्संग की व्यवस्था रखे रहेंगे।

* इंद्रियसंयम, अर्थसंयम, समय संयम और विचार संयम का सतत अभ्यास करेंगे।

* अपने आप को समाज का एक. अभिन्न अंग मानेंगे और सबके हित में अपना हित समझेंगे।

* मर्यादाओं को पालेंगे, वर्जनाओं से बचेंगे, नागरिक कर्त्तव्यों का पालन करेंगे और समाजनिष्ठ बने रहेंगे।

* समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी को जीवन का एक अविच्छिन्न अंग मानेंगे।

* चारों ओर मधुरता, स्वच्छता, सादगी एव सज्जनता का वातावरण उत्पन्न करेंगे।

* अनीति से प्राप्त सफलता की अपेक्षा नीति पर चलते हुए असफलता को शिरोधार्य करेंगे।

* मनुष्य के मूल्याकन की कसौटी उसकी सफलताओं, योग्यताओं एव विभूतियों को नहीं, उसके सद्विचारों और सत्कर्मों को मानेंगे।

* दूसरों के साथ वह व्यवहार नहीं करेंगे, जो हमें अपने लिए पसंद नहीं। नर-नारी परस्पर पवित्र दृष्टि रखेंगे।

* संसार में सत्प्रवृत्तियों के पुण्य-प्रसार के लिए अपने समय, प्रभाव, ज्ञान, पुरुषार्थ एवं धन का एक अंश नियमित रूप से लगाते रहेंगे।

* परंपराओं की तुलना में विवेक को महत्त्व देंगे।

* सज्जनो कों संगठित् करने, अनीति से लोहा लेने और नवसृजन की गतिविधियों में पूरी रुचि लेंगे।

* राष्ट्रीय एकता एवं समता के प्रति निष्ठावान रहेंगे। जाति, लिंग, भाषा, प्रांत, संप्रदाय आदि के कारण परस्पर कोई भेदभाव न बरतेंगे।

* मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है- इस विश्वास के आधार पर हमारी मान्यता है कि हम उत्कृष्ट बनेंगे और दूसरों को श्रेष्ठ बनाएँगे, तो युग अवश्य बदलेगा।

* 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा', 'हम सुधरेंगे-युग सुधरेगा' इस तथ्य पर हमारा परिपूर्ण विश्वास है।

।। समाप्त ।।